International Journal of Advanced Education and Research
ISSN: 2455-5746; Impact Factor: RJIF 5.34
Received: 21-06-2019; Accepted: 23-07-2019
www.alleducationjournal.com
Volume 4; Issue 5; September 2019; Page No. 48-49

साहित्यकार की प्रतिबद्धता और साहित्य में प्रति-सौंदर्य का अध्ययन

डॉ. अमिय कुमार साहु

एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी) एवं प्रमुख, भाषा संकाय, राष्ट्रीय रक्षा अकादमी, खड़कवासला, पुणे, महाराष्ट्र, भारत

सारांश

हर साहित्यकार को किसी ना किसी के प्रति प्रतिबद्ध होना पड़ता है और साथ-साथ साहित्य को भी। प्रतिबद्ध होना साहित्य के लिए पहली और अनिवार्य शर्त है। सही तरह से देखा जाए तो प्रतिबद्धता मार्क्सवादी समीक्षा का एक पारिभाषिक शब्द है जो पूंजीपति वर्ग के खिलाफ सामान्य वर्ग के साथ जुड़ाव का परिचायक है। प्रतिबद्धता का अभिप्राय हुआ श्रमिक वर्ग का साथ देकर क्रांतिकारी परिवर्तन में अपनी भूमिका अदा करना अर्थात मार्क्सवादी विचारधारा में प्रतिबद्धता क्रांति शब्द के साथ घुलमिल गया है। अगर हम इस परिभाषा से हटकर इसका सामान्य अर्थ लगाएं तो इसका अर्थ यही होगा कि यह किसी के लिए, किसी के प्रति, किसी विषय के लिए, किसी समूह के लिए या किसी वर्ग के लिए बद्ध होना। अब सवाल यह उठता है कि हम किसके प्रति प्रतिबद्ध हैं और अगर हम साहित्य की बात करें तो यह किस का पक्षधर हो? साहित्य की इस प्रतिबद्धता का विश्लेषण करना और इस प्रतिबद्धता में प्रति-सौन्दर्य को तलाशना इस शोध-लेख का उद्देश्य है।

मूल शब्द: साहित्य, प्रतिबद्धता, प्रति-सौन्दर्य

प्रस्तावना

साहित्य विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है और विचार हमेशा जनजीवन की वास्तविक आकांक्षाओं के प्रतिनिधि होते हैं। अगर कोई विचार इससे हटकर है तो यह सही मायने में विचार नहीं है। अर्थात विचार को हमेशा किसी न किसी का पक्षधर होना होता है। दूसरे शब्दों में साहित्यकार अवश्य किसी ना किसी का पक्षधर होता ही है । अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि साहित्याकार किसका पक्षधर हो और कैसे हो? क्या पक्षधरता कभी-कभी लेखक के अपने स्वार्थ की उपज नहीं होती ।

साहित्यकार की प्रतिबद्धता और साहित्य में प्रति-सौंदर्य

साहित्य को हमेशा मानव का पक्षधर होना चाहिए। फिर क्या यह साहित्य संपूर्ण सृष्टि के मानवों का पक्षधर हो सकता है? यह प्रश्न कहीं ना कहीं बेमानी प्रतीत होता है। फिर पक्षधरता किससे? बकौल मुक्तिबोध "पक्षधरता के प्रश्न को अंतरात्मा से अलग कर देखा नहीं जा सकता। यदि पक्षधरता है तो अंतरात्मा का पक्षधर होना चाहिए अर्थात मानव मूल्यों की चरम उत्कर्ष स्थिति के रसात्मक बोध का पक्षधर होना चाहिए"।[1] शिवकुमार मिश्र लिखते हैं "वह यदि प्रतिबद्ध है तो अपने प्रति, अपनी आत्मा के प्रति, अपनी आत्मा की आवाज के प्रति, प्रतिबद्धता एक तो बेमानी है और उसके कोई माने हो सकते हैं तो इसी अर्थ में"।[2] जहां अंतरात्मा की बात आएगी, वहां चेतना की गुंजाइश रहेगी ही। अर्थात कलाकार की चेतना कैसी है, उसकी चेतना की बनावट कैसी है। कहीं वह केवल निजी स्वार्थ के प्रति सजग तो नहीं है। हर एक की चेतना किसी ना किसी के प्रति जाने या अनजाने प्रतिबद्ध तो हुआ ही करती है। अगर कोई इसका खंडन करे तो यह बेमानी होगी। कारण यह है कि जब कोई रचनाकार किसी दूसरे विचार के लोगों का विरोध करता रहता है तो यह किसी एक विचार के प्रति प्रतिबद्ध होने का प्रमाण है। ऐसे लोग बहुत खतरनाक होते हैं जो अपनी प्रतिबद्धता को स्पष्ट न करते हुए दूसरों का विरोध करते रहते हैं। यदि प्रतिबद्धता का या पक्षधरता से बचा नहीं जा सकता है तो यह प्रश्न उठता है कि चेतना किसकी पक्षधर हो?

सुनहले उर्द्ध्व आसमान के पक्ष में
अथवा अंधेरी निम्न कक्षा में तुम्हारा मन
कहां हो तुम ! [3]

सीधा सा उत्तर यह हो सकता है कि सुनहरे उर्द्ध्व आसमान का अर्थात सत्य का, पक्षधर होना चाहिए। सत्य को मार्क्सवादी वस्तुगत मानते हैं। उनके अनुसार किसी वस्तु का ऐसा ज्ञान जो उस वस्तु को सही-सही प्रतिबिंबित करता हो अर्थात जो उस वस्तु के अनुरूप हो।[4] हमारे समाज का सत्य यह है कि हम आज विखंडित हैं- कहीं वर्ग के आधार पर तो कहीं वर्ण के आधार पर और सत्य यही मांग करता है कि इन संकटों से मुक्त होकर समाज शांति, बंधुत्व, भाईचारे और विकास की सुविधाओं से होकर गुजरे। चेतना को, आत्म को इन शब्दों के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए। लेकिन कभी-कभी चेतना या आत्मा को पूरी तरह से दोष से मुक्त माना नहीं जा सकता अर्थात जब आत्म ही दोषयुक्त होगा तब वह सत्य का कैसे पक्षधर हो सकता है। क्योंकि लेखक किसी ना किसी जाति, धर्म, प्रांत आदि से संबंध रखता है। इसलिए एक व्यक्ति के तौर पर वह कभी-कभी असत्य के प्रति भी आस्थावान हो उठता है। लेकिन लेखक का दायित्व बहुत बड़ा होता है। अतः समाज के लिए, सत्य की रक्षा के लिए, उसे अपने आपस की संबद्धता को बदलना भी पड़ता है और ऐसा करते हुए वह अपनी अंतरात्मा के प्रति प्रतिबद्ध होता है और सत्य के प्रति भी ।

क्या सत्य के प्रति प्रतिबद्धता सिर्फ बने बनाए सौन्दर्य के मानदंड के आधार पर हो सकती है या इसके विरोध में जाकर भी। फ्रांस के प्रख्यात चित्रकार दूँसा ने विश्व की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति मोनालिसा में मूंछ-दाढ़ी बनाकर यह प्रश्न किया था कि यह कलाकृति क्यों नहीं हो सकती। क्या सौंदर्य के मानदंडों के विरोध में जाना सत्य के प्रति प्रतिबद्ध होना नहीं हो सकता। क्या प्रति-सौंदर्य सौंदर्य का पर्यायवाची नहीं हो सकता। जब हम प्रति-सौंदर्य की बात करते हैं तो इससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि यह सौंदर्य का बिल्कुल उल्टा है। यह सौंदर्य से बाहर की चीज नहीं है बल्कि सौंदर्य का ही दूसरा रूप है। वैसे कहा जा सकता है कि यह सौंदर्य को देखने परखने की एक अलग नई दृष्टि है। हां, यह जरूर है कि यह पूर्व निर्धारित प्रतिमानों के खिलाफ जाता है जो प्रतिमान समाज के लिए गलत साबित हो रहे हैं। उसके विरोध में जाकर, प्रति-सौंदर्य के माध्यम से एक बार फिर एक नए सौंदर्य को जन्म देता है। अर्थात समाज में व्याप्त असुंदरता को तोड़ने के लिए फिर एक असुंदरता का जन्म होता है, जो अपने आप में सुंदर और सत्य होता है ।

जब तात्कालिक परिस्थिति फूहड़ता और नृशंसता में लबालब भरी हो; जहां लोग अपने को एक अशांत, बर्बर दुनिया के बीच पाएं; वहां कलाकार को इस भयावहता को तोड़ने के लिए ठीक उसी तरह के असुंदर, फूहड़, प्रतिमानों को

लाना पड़ता है। कला में इस फूहड़ता और नृशंसता का समावेश कलाकार के अपने जीवन के त्रासदबोध के कारण ही होता है। अपने जीवन में सामना किए गए त्रासदी को वह कला में रूप देता है। लेकिन आधुनिक कला का यह त्रासदीबोध प्राचीन कला के त्रासदीबोध से एकदम अलग है। प्राचीन काल में नायक त्रासदी को एक कर्मफल के रूप में भोगता जाता है; एक संकल्प के रूप में सामना नहीं करता। संकल्प के साथ त्रासदी को मृत्यु तक स्वीकार करना इस बात का प्रमाण है कि वह जगत के सत्य को जानना और दूसरों को इससे अवगत कराना चाहता है। रमेश कुंतल मेघ ने यूरोपीय कला का उदाहरण देते हुए लिखा है- यूरोप में ओडिपस से लेकर हेमलेट तक, जॉन ऑफ अर्क से लेकर करमाजोब तक अपने संशय तथा विश्वासों को कर्म क्षेत्र में परीक्षा करते जाते हैं। इस संघर्ष, द्वंद्व और परीक्षण का क्रम मृत्यु तक चलता है। इस तरह त्रासदबोध मानवीय ज्ञान की यात्रा है। जहां वह अपने कर्म के, अपने विश्वास ke, अपने ईश्वर के तथा अपने जगत के बारे में तथ्य जानना चाहता है। त्रासदबोध में संशय तथा विश्वास का, यंत्रणाभोग और संघर्ष का सहकार रहता है।[5] कुल मिलाकर यह त्रासदबोध और कुछ नहीं परोक्ष प्रश्नों का सिलसिला है। इसके माध्यम से नायक युग की कुरूपता पर प्रश्नचिह्न खड़ा करता है।

भारतीय प्राचीन कला में यह त्रासदबोध करुणा तक सीमित होकर रह गया था। प्राचीन क्लासिकी के नायक त्रासदबोध तो झेलता है परंतु एक निष्क्रियता, विवशता के नीचे दबते हुए। उसमें झेलने का संकल्प नहीं रहता। रमेश कुंतल मेघ उत्तर रामचरित का उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि "उत्तररामचरित की सीता तो नैतिकता और अन्याय को चुनौती देती है किंतु नायक राम विवश तथा निष्क्रिय होकर अन्याय सहते हैं। तथा लक्ष्मण इसका पालन करते हैं। अतः उत्तररामचरित में व्यथा तो छा जाती है किंतु यह नाटक त्रासदी नहीं बन पाता। अतः भारतीय मानसिक मनोवृति यथा के ग्रहण से आगे नहीं बढ़ सकी"।[6] अतः यहां यह सवाल उठता है कि इसका क्या कारण है कि यह त्रासदी नहीं बन सका। हम यही कह सकते हैं कि तत्कालीन परिस्थितयाँ इसके लिए जिम्मेदार थीं। तब लोग यह समझते थे कि जगत मिथ्या और क्षणभंगुर है। तथा मृत्यु के बाद आनंद प्राप्त हो सकता है। इस भाग्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार विधि ही मनुष्य के कर्मों का संचालक है तथा मनुष्य एक कठपुतली मात्र है। मनुष्य के सभी कर्मों के फल इसके पूर्व जन्म के कर्म के परिचायक हैं। अतः मनुष्य विद्रोह नहीं कर सकता, सवाल खड़ा नहीं कर सकता। बस प्रदत्त को स्वीकार करते जाना उसकी नियति है।

ऐसी धारणा त्रासदी का सृजन नहीं कर सकती। त्रासदी को दोबारा एक कला रूप बनने के लिए यह जरूरी है कि अनुभूत यथार्थता से देवी को निर्वासित कर दिया जाए, साधारण व्यावहारिक जीवन का मोहभंग करा दिया जाए और स्वयं में प्रत्याहरण कर दिया जाए, ताकि वह सारभूत सत्ता से, चेतना से, ईश्वर से पृथक एकांत हो जाए।[7]

पर आधुनिक त्रासदीबोध चाहे वह कला में हो या जीवन में, भाग्य या कर्मफल की त्रासदी नहीं है। यह तो मनुष्य के चरित्र की त्रासदी है जिसमें निजतापन, निरुद्देश्यता, अकेलापन, संदेह आदि हैं। यह समाज प्रदत्त है, इनका कला में प्रकटीकरण उसकी एक सौंदर्यबोधात्मक वृति है। यही निजतापन, निरुद्देश्यता, अकेलापन, संदेह आदि से ही फूहड़ता, नृशंसता, व्यंग्य-विद्रूपता का जन्म होता है जो जीवन में भी प्रकट होता है और कला में भी। फूहड़ता आदि त्रासदी का ही एक मूल्य है जो और कुछ नहीं मनुष्य के अपने प्रारब्ध से अनलिप्त रहने के लिए बाध्य करता है। फूहड़ता यह एक निंदक, नास्तिक मनुष्य का, एक क्रूर नास्तिक जगत के प्रति प्रतिरोध लगता है।[8] यह जगत की नास्तिकता कोई ईश्वर के प्रति नास्तिकता नहीं है। यह तो उस मानवीयता के प्रति नास्तिकता है जो एक अमानवीय संसार का सृजन करती है। दिन प्रतिदिन की नीरसता, निरर्थकता और इनसे उत्पन्न भग्नासा, जगत का संत्रास और उससे उत्पन्न भय ही फूहड़ता के मूल तत्व है। "इस फूहड़बोध को मिटाने का एक रास्ता तो आत्महत्या तथा विश्वास ध्वंस भी है (कामू) और दूसरा फूहड़ता को अस्तित्व में स्वीकार करने का है (सार्त्र)"।[9] साधारण मनुष्य जहां इस फूहड़ता को आत्महत्या में बदल देता है वहां एक रचना कार उसे अपने अस्तित्व का एक अंग बना लेता है। वह इस विसंगतियों से, अमानवीयता से भरे संसार का सामना करते हुए त्रासदबोध से लबालब भर उठता है और बहुत सारे प्रश्नों को खड़ा करता है। उसके सत्य को जानना चाहता है। मुखौटे के पीछे छिपे हैवानियत का खुलासा कर देना चाहता है। इस क्रम में वह साहित्य में भी एक फूहड़, नृशंस संसार का सृजन करता है, जो मुल रूप से कुरूप होते हुए भी सुंदर होता है। क्योंकि उसका लक्ष्य एक व्यापक कुरूपता को ध्वस्त कर सौंदर्य की प्रतिष्ठा करना होता है।

वह कला रूपों के प्रचलित सौंदर्य के विरुद्ध में भी जाता है। इसलिए कि वह जानता है प्रचलित सौंदर्य के मानदंड अमानवीयता को, कुरूपता को तोड़ नहीं सकते; उन पर सवाल खड़ा नहीं कर सकते; उसकी कलई नहीं खोल सकते। क्योंकि ये तो उसी पैटर्न में ढले हुए होते हैं जो पैटर्न अमानवीय संसार के निर्माता तैयार करते हैं। अतः इसके विरुद्ध रचनाकार एक प्रति-सौंदर्य का सृजन करता है जिसका कार्य नृशंसता और अमानवीयता को ध्वस्त करना होता है। इस क्रम में वह पुराने सौंदर्यबोध को तोड़ता है, वस्तु को तोड़ता है साथ-साथ भाषा को भी और सब कुछ गड्ड-मड्ड कर रख देता है। क्योंकि यही संसार का सत्य है। कहीं वह शब्दों के साथ खिलवाड़ करता है तो कहीं वस्तु के साथ। पर इसके पीछे उसका मूल लक्ष्य मानवीयता की स्थापना और अमानवीयता का विरोध होता है। कुल मिलाकर प्रति-सौंदर्य मुक्तिबोध की भाषा में जड़ीभूत सौंदर्य के विरुद्ध एक नए सौंदर्य की स्थापना है जो मूलतः गड्ड-मड्ड, कुरूप होते हुए भी मानव पक्षधर होता है, मानव प्रतिबद्ध होता है और इस क्रम में वह सुंदर होता है।

संदर्भ सूची

1. जैन, नेमीचंद्र - मुक्तिबोध रचनावली (भाग-5) पृ 181
2. मिश्र, शिव कुमार - मार्क्सवादी साहित्य चिंतन, इरिहास तथा सिद्धान्त, मध्यप्रदेश हिन्दी अकादमी भोपाल, 1973, पृ 437
3. मिश्र, शिव कुमार - मार्क्सवादी साहित्य चिंतन, इरिहास तथा सिद्धान्त, मध्यप्रदेश हिन्दी अकादमी भोपाल, 1973 उद्धृत पृ 437
4. मुक्तिबोध- चाँद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली-3 पृ 148
5. मेघ, रमेश कुंतल- अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, मैकमिलन दिल्ली -5, पृ 395
6. मेघ, रमेश कुंतल- अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, मैकमिलन दिल्ली -5 पृ 396
7. अर्नोल्ड हाउजर, मेघ, रमेश कुंतल- अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, मैकमिलन दिल्ली -5पृ 395
8. मेघ, रमेश कुंतल- अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, मैकमिलन दिल्ली -5 पृ 397
9. मेघ, रमेश कुंतल- अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, मैकमिलन दिल्ली -5 पृ 398